अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता

वर्ष: 8

अर्द्ध वार्षिक

अंक: 2

गुरू पूर्णिमा आषाण शुक्ल विक्रम संवत 2081, 21 जुलाई 2024

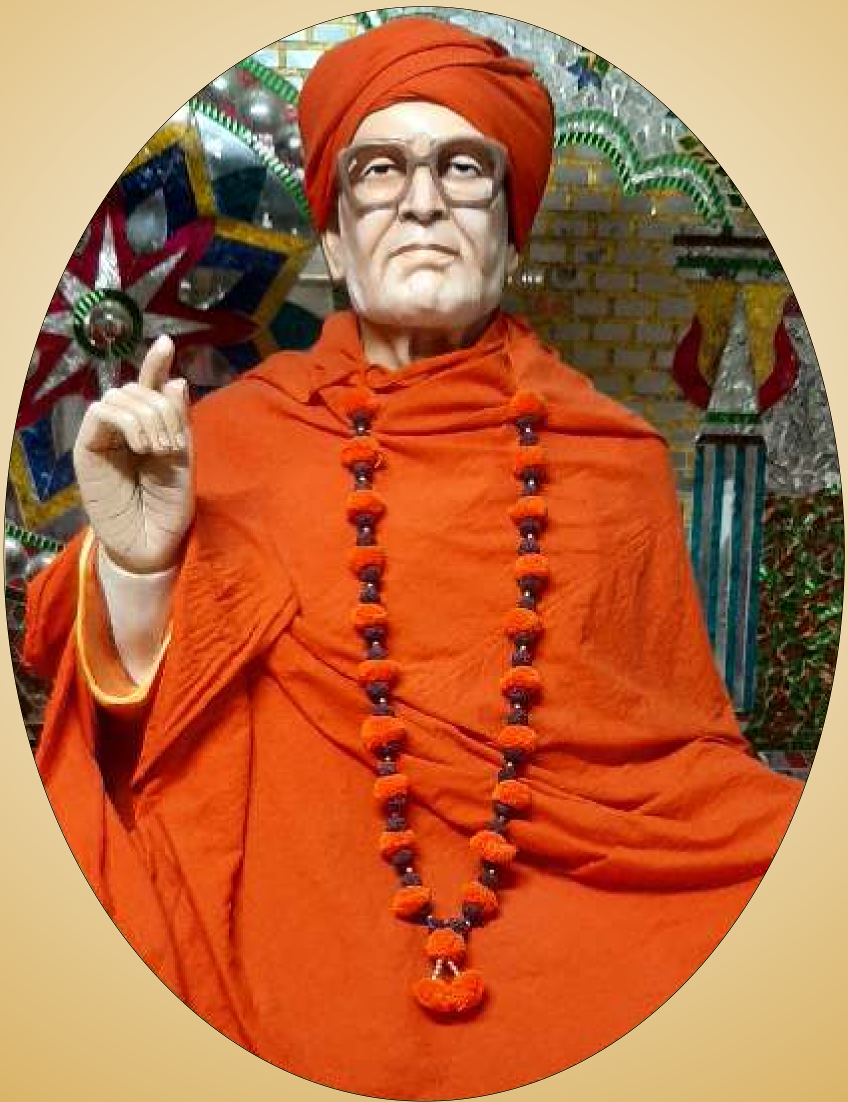

श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम

वेदान्त नगर, सीपरी बाजार, झाँसी (उ.प्र.)

पूज्य स्वामी जी अखण्डानन्द जी महाराज (पीली कोठी)

प्रार्थना

कर प्रणाम तेरे चरणों में लगता हूँ अब तेरे काज । पालन करने को आज्ञा तव मैं नियुक्त होता हूँ आज।।
अन्तर में स्थित रहकर मेरे बागडोर पकड़े रहना। निपट निरंकुश चचंल मन को सावधान करते रहना।।
अन्तर्यामी को अन्त: स्थित देख सशङ्कित होवे मन। पाप-वासना उठते ही हो नाश लाज से वह जल-भुन।।
जीवों का कलरव जो दिनभर सुनने में मेरे आवे। तेरा ही गुणगान जान मन प्रमुदित हो अति सुख पावे।।
तू ही है सर्वत्र व्याप्त हरि! तुझमें यह सारा संसार। इसी भावना से अन्तरभर मिलूँ सभी से तुझे निहार।।
प्रतिपल निज इन्द्रिय समूह से जो कुछ भी आचार करूँ। केवल तुझे रिझाने को, बस तेरा ही व्यवहार करूँ।।

आश्रम के प्रतिदिन के कार्यक्रम

प्रात:काल 4.30 बजे से 5:30 बजे तक	-	प्रभाती ब्रह्म कीर्तन
प्रात:काल 5:30	-	आरती
प्रात:काल 5:35 बजे से 7:00 बजे तक	-	योगाभ्यास
प्रात:काल 8:00 बजे से 9:00 बजे तक	-	गीता स्वाध्याय
सायंकाल 4:00 बजे से 6:00 बजे तक	-	योगवशिष्ठ महारामायण की कथा तथा सन्त महापुरूषों द्वारा वेदान्त के भजन कीर्तन व उपदेश
सायंकाल 4:00 बजे से 6:00 बजे तक	-	16 अक्टूबर से 15 अप्रैल - शीतकालीन समय
सायंकाल 3:00 बजे से 5:00 बजे तक	-	16 अप्रैल से 15 अक्टूबर - ग्रीष्मकालीन समय

आश्रम के वार्षिक कार्यक्रम

गुरू पूर्णिमा (आषाढ़ सुदी पूर्णिमा)

पुण्य स्मृति बसन्त पंचमी (माघ सुदी पंचमी)

अखण्ड विशम्भरानन्द ज्ञान सरिता

वर्ष 8, गुरुपूर्णिमा, आषाढ़ शुक्ल विक्रम संवत् 2081

स्वामी श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता संत आश्रम के लिये प्रकाशक, मुद्रक, प्रधान सम्पादक श्री राजेन्द्र कुमार मिश्रा द्वारा अमर ज्योति प्रेस, झांसी द्वारा मुद्रित किया गया व श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम, लहर देवी रोड, वेदान्त नगर, सीपरी बाजार, झांसी से प्रकाशित।

सम्पादक– श्री प्रमोद कुमार गुप्ता

पं.सं. UPHIN/2016/73634
भारत सरकार

संस्थापक एवं संरक्षक:
श्री आर. के. मिश्रा
श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम धर्मार्थ समिति
लहरगिर्द, नालगंज
सीपरी बाजार, झांसी (उ.प्र.)

आदि सम्पादक:
ब्रह्मलीन परम पूज्य श्रद्धेय स्वामी शुकदेवानन्द जी

प्रधान सम्पादक:
श्री राजेन्द्र कुमार मिश्रा

सम्पादक:
श्री प्रमोद कुमार गुप्ता

सम्पादन मण्डल:
डॉ. रंजना शर्मा
श्रीमती कुमकुम बिसरिया
श्री अरविन्द देवलिया
श्री वैभव वर्मा

प्रकाशन कार्यालय:
श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम
धर्मार्थ समिति लहरगिर्द, नालगंज
सीपरी बाजार, झांसी (उ.प्र.)
पिनकोड–284 003
मोबा. : 8604924948

अर्द्धवार्षिक

मूल्य : निःशुल्क वितरण स्वाध्याय हेतु

–मुद्रक–
अमर ज्योति प्रेस
सदर बाजार, झाँसी, मोबा. : 9415030917

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विवरण	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय	राजेन्द्र कुमार मिश्रा	03
2.	पुरोवाक्	प्रमोद कुमार गुप्ता	04
3.	प.पू. स्वामी शुकदेवानन्द जी का योग शिविर में प्रवचन – सप्तम् पुष्प	प्रमोद कुमार गुप्ता	05
4.	जीवन की सार्थकता के मार्ग	ब्र. राघवेन्द्र चैतन्य	07
5.	वासना त्याग	गार्गी जी	09
6.	द्वैतवाद	पं. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी	11
7.	सत्संगति	रंजना शर्मा	13
8.	परम शान्ति	प्रमोद कुमार गुप्ता	14
9.	प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो	अरविन्द देवलिया	16
10.	विवेक और संस्करण	कुमकुम बिसारिया	19
11.	धर्म	शंकरदास	21
12.	गुरु और शास्त्र	वैभव वर्मा	23
13.	मानव मांसाहारी या शाकाहारी	डा. अनिल दुबे	24
14.	महावाक्य	–	27
15.	सद्गुरु आरती	–	28

संपादकीय

गुरु पूर्णिमा सनातन धर्म के अनुयायी हर साल आषाढ़ माह की पूर्णिमा तिथि को मनाते हैं। यह भारतीय महाकाव्य महाभारत के लेखक महर्षि वेदव्यास की जयन्ती का प्रतीक है। इस दिन को व्यास पूर्णिमा के नाम से भी जाना जाता है। यह भी माना जाता है कि बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने इसी दिन अपना पहला उपदेश दिया था। बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के पाँच सप्ताह बाद बुद्ध बोध गया से सारनाथ चले गये। वहाँ उन्होंने पूर्णिमा के दिन अपना पहला उपदेश अपने पहले पाँच शिष्यों को दिया था। गुरु पूर्णिमा का पर्व हिन्दुओं, जैनिओं और बौद्धों द्वारा सभी आध्यात्मिक गुरुओं और शैक्षणिक शिक्षकों को समर्पित है।

गुरु में गु शब्द का अर्थ है अन्धकार और रु का अर्थ है अंधकार को दूर करना। अतः गुरु वह होता है जो हमारे जीवन के सभी अंधकार दूर कर देता है।

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु देवो महेश्वराः।
गुरु साक्षात् परम ब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

अर्थात्– गुरु स्वयं देवताओं के समान हैं। आप ही भगवान ब्रह्मा हैं, आप ही भगवान विष्णु हैं और आप ही महेश हैं। आप पूर्ण ब्रह्म स्वरूप हैं। मैं आपको नमन करता हूँ।

शास्त्रों में भी गुरु को देवताओं से भी ऊँचा स्थान प्राप्त है। स्वयं भगवान शिव गुरु के बारे में कहते हैं।

गुरुदेवो गुरुधर्मो, गुरौ निष्ठा परं तपः।
गुरोः परतरं नास्ति, त्रिवारं कथयामि ते।।

अर्थात– गुरु ही देवता है, गुरु ही धर्म है, गुरु में निष्ठा ही परम धर्म है।

अनन्त विभूषित परिव्राजकाचार्य त्यागमूर्ति ब्रह्मनिष्ठ श्री सद्‌गुरु स्वामी विशम्भरानन्द जी महाराज एक पूर्ण समर्थ आत्मज्ञानी सन्त थे। उनका स्मरण करने मात्र से ही शिष्यों में सभी विद्यायें आ जाती हैं। उनकी वन्दना मात्र से ही अदृश्टय अर्थ खुलने लगते हैं और सम्पूर्ण आत्मबोध हस्तगत हो जाता है। अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और सुख का उदय अपने आप होने लगता है। आइये, इस गुरु पूर्णिमा को हम ऐसे सन्त शिरोमणि को नमन करें और अपने को पूर्ण समर्पित करें।

– राजेन्द्र मिश्र
प्रधान सम्पादक

पुरोवाक्........

गुरु साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।

गुरु को साक्षात् ब्रह्म कहा गया है। इसीलिए संत कबीर जी ने कहा है–

हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।।

गुरु के पास अपने अहं को त्यागकर पूर्ण समर्पण के साथ श्रद्धा भाव से जाना चाहिए। शिष्य की समस्त जिज्ञासाएँ एवं इस शरीर में अज्ञानता के कारण जो विकार रूपी अंधकार विद्यमान रहता है। उसे गुरु ही ज्ञान रूपी प्रकाश से विलोपित कर देते हैं।

जहाँ गरु की महिमा का बखान किया जाता है, वहीं हमें यह भी जानना जरूरी है कि सच्चे शिष्य की सद्गुरु को प्रतीक्षा रहती है। इसके लिए सुन्दर उदाहरण स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी का है। रामकृष्ण परमहंस के पास प्रारम्भ में जब नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) गये तब उन्होंने शिकायत भाव में ओलाहना देते हुए नरेन्द्र से कहा– "तू इतने दिनों पश्चात् आया। मैं किस प्रकार तेरी प्रतीक्षा करता रहा, तू सोच भी नहीं सकता।"

सर्वविदित है कि सद्गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को अपने शिष्य को शक्तिपात कर देते हैं। शिष्यों का जीवन पर्यंत उनके दुःखों का हरण करके उनको शान्त एवं र्निद्वंद जीवन प्रदान करने की क्षमता गुरु रखते हैं।

सभी शिष्यों का भी कर्तव्य बनता है कि गुरु के प्रति कृतघ्न भाव रखकर गुरुपूर्णिमा पर उनको श्रद्धा सुमन समर्पित कर उनका पूजन वंदन करें।

प्रेरणा और आशीर्वाद स्वरूप विचारों एवं भावों को गुरु कृपा से यह 'अखंड विश्वम्भरानंद ज्ञान सरिता' सुधि पाठकों को जीवन दर्शन के रूप में सुन्दर दिशा देने के लिए सहायक सिद्ध होगी। यही इच्छा के साध हमारे परमपूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी की थी। उन्हीं की अदृश्य शक्ति एवं परमपूज्य स्वामी विश्वम्भरानन्द जी के वरदहस्त से वही क्रम अनवरत सभी भक्तों के लिए उन्हीं के आशीर्वाद से चल रहा है।

सुधि पाठक मनन–चिंतन करके गुरु कृपा से प्राप्त सुन्दर भाव पुष्पों को संजोकर जीवन में धारण करके अपने जीवन को आनन्द से भर लें। यही उद्देश्य यह पत्रिका संजोए हुए आप सबको समर्पित है।

– प्रमोद कुमार गुप्ता
संपादक

परम पूज्यनीय श्री स्वामी शुकदेवानन्द का योग शिविर में प्रवचन – सप्तम् पुष्प

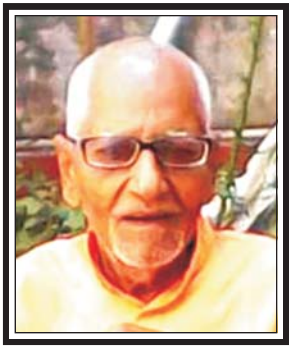

तुम सच्चिदानन्द हो, यह गुरुदेव का आशीर्वाद है। हम सत् हैं, सत् को पहचानें, सत् में स्थित हों, सत् से ही हमारा प्यार हो, सत् का ही हमारे जीवन में महत्व हो। कोई असत् से हमें ठगता है तो सत् के धोखे में ही ठगता है। जब तक हम उसके व्यवहार को सत् समझते हैं तभी तक हम उस पर श्रद्धा करते हैं। जब हम ठगे जाते हैं और उसका असत् रूप हमारे सामने आता है। तब हम उससे विलग हो जाते हैं। उस समय हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हमारी बुद्धि ने भले ही धोखा खाया, परन्तु हम अपनी बुद्धि को सत् से विलग न करें। जिस प्रकार से पत्नी पर हम अपना पूरा नियंत्रण रखते हुए उसे अपने अनुकूल चलाना चाहते हैं। हम यह भी नहीं देख सकते कि वह अन्य किसी से हमारी तरह घुलमिल जाए अथवा जैसी समरसता हम में है, वैसी ही किसी अन्य में हम नहीं देख सकते हैं। फिर हम सत् स्वरूप होकर अपनी बुद्धि को असत् से क्यों जुड़ी रहने देते हैं?

इसका कारण यही है कि हमने अपने को सत् स्वरूप पहचाना नहीं और असत् संसार जो बच्चों के खेलने के लिए खिलौना जैसा है, हम नादान होकर उसी संसार में रम जाते हैं। यदि हम अपने को सत् स्वरूप जान लें, अपने चेतन स्वरूप को पहचान लें तो हमारे सिवाय कोई चेतन नहीं है। जानने वाले हम ही हैं, जो हर एक जीव के शरीर में आत्मा बनकर विराजे हैं और बुद्धि में बैठकर इस संसार में जीव के शरीर को 'मैं' मानकर व्यवहार कर रहे हैं। अपने निज स्वरूप को भूले हुए हैं, यह संसार हमारी भूल से ही चल रहा है। इस भूल को सुधारने के लिए परमात्मा ने मनुष्य योनि दी है, जिसमें इतनी सामर्थता है कि वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को पहचान सकती है। इसलिए हमारे मनीषियों ने संसार में विरत होकर, अरण्य में बैठकर अरण्य का तात्पर्य है जहाँ किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं, किसी प्रकार की वासना नहीं और न ही कोई द्वंद हो, जहाँ पर केवल तत्त्व जिज्ञासु ही उनके शिष्या के रूप में थे, वही उन्होंने शिष्यों की जिज्ञासा शान्त करने के लिए ब्रह्म विचार किया।

इस सृष्टि के कर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता के रूप में केवल वही तत्त्व पाया, जो तत्त्व सब जीवों में आत्मा के रूप में विराजमान है, वही तत्त्व हमारे अन्दर भी विराजमान है। वह ही सत्–चित् है जो अपने को जान रहा है, संसार को भी जान रहा है और अपने कर्तव्यों को भी कर रहा है। वही चैतन्य अबाध गति से सूर्य बनकर सबको प्रकाशित कर रहा है एवं चन्द्रमा बनकर समस्त शरीरों को पुष्ट कर रहा है।

श्रुति कहती है– "ईश्वर है जो सबके हृदय में विराजमान है एवं सबको देख रहा है,

सबका दृष्टा बना है, वही साक्षी परमात्म तत्त्व है। वह ही सब देश में व्यापक है, उसका कहीं भी अभाव नहीं है। उसी का नाम विष्णु है, वह ही सबको आच्छादित किए हुए है, वह ही सबका नियंता है।" उसके लिए श्रुति कहती है–

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

सबमें ईश्वर का वास देखते हुए अपना एवं अपने परिजनों का पालन एवं कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। सारी सृष्टि परमाात्मा का ही शरीर है, उसके सूर्य–चन्द्र नेत्र हैं, आकाश उदर है, अग्नि मुख है, अन्तरिक्ष सिर है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, जल मूल स्थान है, पृथ्वी पैर है। उसी का नाम जाग्रत अवस्था में वैश्वानर है, स्वप्न में तेजस् है एवं सुषुप्ति में प्राज्ञ है। जो सुषुप्ति में प्राज्ञ है वही ईश्वर है, जो स्वप्न में तेजस है वही हिरण्यगर्भ है, जो जाग्रत में वैश्वानर है, वही विराट है। वही सत् है, चेतन है, वही आनन्द स्वरूप है। वही हमारा 'मैं' है, बस उसको पहचानने भर की देर है, विचार करें तो पायेंगे कि 'मैं' के अतिरिक्त इस सृष्टि में कुछ भी नहीं है, 'मैं' ही इस सृष्टि में सब रूपों में नजर आ रहा हूँ।

मैं ही सब रूपों में सत् भास रहा हूँ, मैं ही चेतन बनकर दृष्टा साक्षी की भाँति देख रहा हूँ, जान रहा हूँ कि यह मेरा ही स्वरूप है। मैं सच्चिदानन्द हूँ। अपने आनंद को कहीं खोजना नहीं, आनंद केवल अद्वैत में है।

संकलनकर्ता– **प्रमोद कुमार गुप्ता**
योग प्रशिक्षक, झाँसी

अनमोल वचन

1. प्रतिष्ठित होने की एवं सम्मान पाने की चाह केवल अहंकारी मनुष्यो में होती है।
2. हम दूसरों से अपने लिए जैसे व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं, हमें स्वयं उनके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।
3. जब तक हम किसी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या भाव रखते हैं तब तक हमें उसके अवगुण ही अवगुण नजर आते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति को हम प्रेम भाव से देखते हैं तब हमें उसके अवगुण भी सद्गुण के रूप में नजर आते हैं।
4. वस्त्र मनुष्य के बाह्य आवरण को दर्शाते हैं, उसी प्रकार किसी मनुष्य के गुण उसकी आन्तरिक समृद्धि को दर्शाते हैं।
5. जो मनुष्य स्वयं को तृप्त महसूस करते हैं एवं उनके मन में किसी भी चीज को पाने की लालसा नहीं होती है, ईश्वर भी ऐसे मनुष्यों से प्रेम करते हैं।

जीवन की सार्थकता के मार्ग

हमारे ऋषियों ने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए विचार पूर्वक जिन मार्गों को स्वीकार किया और उनके अनुभव द्वारा भी उनकी सिद्धि हुई वे ही 'योग' कहलाए। उसी योग को चार नामों से सम्बोधित किया गया।

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा।

मनुष्य के जीवन में कर्म है। कर्म साधना के प्रधान रूप से लेकर जिस मार्ग या योग का निरूपण हुआ, उसे कर्मयोग अथवा कर्ममार्ग कहते हैं। जीवन को सार्थकता तक पहुँचाने के लिए महापुरुषों ने दूसरे मार्ग को 'भक्ति–योग' का नाम दिया जो कि भावना प्रधान है। हर मनुष्य के मन में किसी न किसी मात्रा में भाव अवश्य है। मनुष्य बौद्धिक शक्ति से भी सम्पन्न है, इसलिए तीसरा मार्ग ज्ञान योग कहलाया, जो कि बुद्धि प्रधान है। बुद्धि का सार्थक उपयोग कर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने वाले मार्ग को ज्ञानयोग की संज्ञा प्रदान की गई। विभिन्न यौगिक क्रियाओं के द्वारा जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ाने वाले मार्ग को योगमार्ग अथवा अष्टांग योग कहा गया। जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सम्मिलित हैं।

जिस साधक ने अपने सार्थक जीवन के लिए जिस मार्ग को साधना के रूप में साधना के रूप में अपनाया, वह साधक उसी आधार पर कर्मयोगी, भक्तिमार्गी, ज्ञानयोगी या अष्टांग योगी अथवा योगमार्गी कहलाया। ये चारों साधन हैं, इनमें आपस में भेद हैं किन्तु इनके द्वारा प्राप्त होने वाले लक्ष्य में कोई भेद नहीं है। भगवान रमण महर्षि जी उपदेश सार ग्रन्थ में कहते हैं कि–

हृत्स्थले मनः स्वस्थता क्रिया। भक्तियोगबोधाश्च निश्चितम्।।

कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग इन सभी मार्गों का लक्ष्य एक ही है और वह है मन का अपने स्वरूप (हृत्स्थली) में स्थित होना। हृत्स्थल का अर्थ है अपने आप में। मन का अपने आप में अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही जीवन की सार्थकता है। जब साधक अपने जीवन पर गंभीरता से विचार करता है तो वह पाता है कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ परिस्थिति का निर्माण भी यदि वह जीवन में कर लेवे, तो भी वह सार्थकता की अनुभूति नहीं प्राप्त करता है। साथ ही न तो वांछित परिस्थिति को बनाये रखने की क्षमता हम में है और न अवांछित परिस्थितियों को रोकने की। अतः परिस्थिति कैसी भी हो वह सार्थकता की अनुभूति विश्राम देने में सक्षम नहीं है। शास्त्र, संत और विचारवान साधकों का अनुभव तो यही कहता है। भागवत महापुराण में कहा गया है कि–

मुक्तिर्हित्वा अन्यथारूपं स्वस्वरूपेण व्यवस्थितिः।

अर्थात् अपने से अन्य अन्य करके जो अनुभव आने वाले सार्थकता के साधन, परिस्थिति में सार्थकता, लक्ष्य कृत्कृत्यता, मुक्ति की अनुभूति नहीं हो सकती है। ये अनुभूति तो अपने स्वरूप में अवस्थित होने पर हृत्स्थले मन में ही हो सकती है। बहुत ही सटीक और गंभीर परिभाषा दी गई है मुक्ति की।

इन चार योगों का अन्तिम उद्देश्य हमारे मन को वह मार्ग दिखाना है, जिससे धीरे–धीरे वह स्वरूप की ओर अपने जीवन लक्ष्य की ओर मुड़ जाए। ये मार्ग ही हमारी मान्यताओं को परिमार्जित कर हमारे नियत मार्ग पर हमको आरूढ़ करते हैं।

यही प्रश्न यह आ सकता है कि जब लक्ष्य एक ही है, गन्तव्य प्राप्तव्य एक ही है, तो चार मार्गों की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारे गुरुजन कहते हैं कि चूंकि साधकों की आरंभ भूमि, मानसिक स्तर, योग्यता अलग–अलग होती है, इसलिए मार्ग भी अलग–अलग हैं। ये मार्ग भेद अधिकारी भेद से है, लक्ष्य तो सभी का एक ही है– **हृत्स्थले मनः।**

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि एक ही साधक अपनी योग्यता वर्धन कर एक मार्ग से दूसरे मार्ग में संक्रमण भी कर सकता है। कर्म मार्गी अपने कर्म को निष्काम और ईश्वरोपित कर भक्ति मार्ग में प्रवेश कर सकता है। ये मार्ग आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, इसलिए इनमे किसी में भी हीनता का भाव नहीं रखना चाहिए। उदाहरण के लिए जो भक्त नहीं वह 'कर्मयोगी' भी नहीं हो सकता है। क्योंकि कर्म योगी तो अपना हर कर्म अर्पण भाव से करता है। जिसके जीवन में कोई प्रमाणित अर्पित आश्रय या ईश्वर, अवतार या गुरु ही नहीं वह किसे अर्पित करेगा? यह हम सब साधकों हेतु विचारणीय है। जगत में अत्यधिक कर्म करने वाले को कर्मयोगी कह देते हैं। किन्तु यह प्रमाणित वैचारिक शास्त्रीय मान्यता नहीं है।

इन सभी मार्गों का ठीक–ठीक ज्ञान तथा इन पर यात्रा तभी सम्भव है जब हम शरीर धारी जीवों हेतु परमात्मा ही शरीरधारी गुरु के रूप में अवतरित होकर हमारा मार्गदर्शन करे, हमें लक्ष्य दिखावे और लक्ष्य पर चलने के लिए हमें बल एवं प्रेरणा प्रदान करे। जीवन की सार्थकता और लक्ष्य प्राप्ति हेतु संसार में सभी सम्प्रदायों ने गुरु उपसत्ति अर्थात् गुरु के मार्गदर्शन, उनके प्रति शिष्य के समर्पण को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। आइये हम भी इस पावन गुरु पूर्णिमा पर प्रभु से प्रार्थना करें कि कृपा करके हमें भी ऐसे शरीरधारी गुरु की प्राप्ति, कृपा प्राप्त हो, जिसके समक्ष में अपने अभिमान का त्याग करे, सहर्ष शरण ग्रहण कर, उनके अनुशासन में रहकर अपने जीवन के सार्थक लक्ष्य आत्मज्ञान या मुक्ति को अनुभव कर सकें।

पूज्य गुरुदेव के चरणों में समर्पित।

– ब्र. राघवेन्द्र चैतन्य
चिन्मय मिशन, झाँसी
मो.– 8707209996

वासना त्याग

मनुष्य का जीवन कर्म–प्रधान है, जिसमें वह अपनी वासनाओं के अनुरूप इच्छा करता है और कर्म करता है। जीव की कर्तापने–भोक्तापने की वासना ही उसके जन्म–मरण का कारण बनती है।

अपने में कर्तृत्व और भोक्तृत्व के भाव का अहंकार कि मैं ही कर्ता हूँ और मैं ही भोगने वाला हूँ, यह अहंकार ही मूलतः जीव भाव है। इस प्रकार, हर व्यक्तित्व की सूक्ष्म और प्रबल वासनाओं की ही अंतिम परिणति है जीव–भाव।

अपने आत्म–स्वरूप के अज्ञान के कारण ही व्यक्ति मन–बुद्धि–प्राण–इन्द्रियों–शरीर में अहं भाव करके, इनके धर्मों को आत्मा पर अध्यारोपित करके अपने को एक अलग व्यक्ति मानकर इनसे अहं–भाव–अहंकार स्थापित कर लेता है।

यह जीव–भाव केन्द्रित अहंकार अपने आपको नाना प्रकार के क्रिया–कलापों, पहचानों में विभक्त कर लेता है।

यही अहंकार किसी विषय–वस्तु से जुड़कर, उनसे राग कर लेता है, किसी से द्वेष कर लेता है। किसी में हमारी ममता–आसक्ति बहुत हो जाती है और किसी में हमारी द्वेष की भावना इतनी प्रबल होती है कि यह हमारे भीतर क्रोध, ईर्ष्या, बदले की भावना को जन्म देते हैं।

आत्मा के अज्ञान ने जीव भाव को जन्म दिया और जीव–भाव ने हमारे भीतर राग–द्वेष का बीज बो दिया। इस अविद्या के कारण ही आसक्ति–द्वेष की भावना हमारे भीतर प्रबल होती चली गई और वासनाएँ अपनी जड़ों को मजबूत करती चली गईं। यह वासनायें हमारे भीतर इतनी मजबूती से हमको जकड़े बैठी हैं कि हमें स्वयं में बंधन, अतृप्ति की अनुभूति होती है।

इसी बंधन से छूटने के लिए हम इच्छाएँ व नाना प्रकार के कर्म करते हैं और परिणाम में यह हमारे भोक्तापन को और पुष्ट करके इस संसार में जकड़े रहती है।

वासनाओं के बीज संस्कार रूप में हमारे भीतर ही विद्यमान हैं। समाधि के द्वारा हम अपनी बुद्धि–वृत्ति की चाल को समझ सकते हैं। समाधि में, ध्यान में अपने मन, प्राण को शान्त करके देखें कि हमारे मन में कैसे एक विचार से दूसरा विचार जन्म लेता है। धीरे–धीरे इनकी गति को शान्त करने का अभ्यास करें।

जब हम यह अभ्यास दीर्घकाल तक करेंगे तो अन्तर्मुखता के अभ्यास से हमारी वासनायें शिथिल हो जायेंगी। जो हमने देह–मन–बुद्धि आदि अनातमा को ही आत्मा मान रखा है, इसी से 'मैं जीव हूँ' यह भाव संसार एवं आवागमन चक्र का कारण बनता है। जन्म और मरण जीव का होता है, जीव ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है।

इन सबका मूल कारण हमारी अविद्या जनित वासनायें हैं। जिसने आत्म ज्ञान के द्वारा समाधि के अभ्यास से वासनाओं से छुटकारा पा लिया है, वही मुक्त है।

जो वासनायें राग–द्वेष, काम–लोभ आदि को निर्मित करती हैं, उनसे छूटकर ही मुक्ति है।

वासनाओं से मुक्ति पाने में सबसे प्रमुख बाधा है– 'मैं और मेरा' भाव की। इस जीव–भाव के कारण हमारा अहं नाना विषयों, भावनाओं और विचारों से बर्हिमुख हो बिखर जाता है। इनको समेट कर अर्न्तमुखी बनायें। यह अर्न्तमुखता हमें कर्तापन–भोक्तापन से छूटने में सहायता करती हैं। विद्वान व्यक्ति को सतत् यह विचार करते रहना– 'मैं शुद्ध चेतन स्वरूप हूँ, निर्विकार हूँ।'

आत्म ज्ञान के प्रकाश में मन के विचारों का साक्षी के रूप में अवलोकन करते रहना, हमारी वासनाओं और उनके बीज का नाश कर देते हैं। आत्म भाव से अनात्म भाव, सद्‌वृत्ति से असद् वृत्ति हट जाती है।

जैसे–जैसे हमारा मन बुद्धि अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होगा, वैसे–वैसे सांसारिक वासनाएँ पूरी तरह समाप्त हो जायेंगी।

यथा–यथा प्रत्यगवस्थितं मनः। तथा–तथा मुञ्चतिबाह्य वासनाः।।

जब वासना शून्यता की अवस्था में अहं विशुद्ध ज्ञान मात्र है। वह ज्ञान वासना रहित, प्रवृत्ति रहित, विकार रहित है।

जिसने इस अवस्था को प्राप्त कर लिया। वह मुक्त, जीवन्मुक्त है।

बोधो निर्वासनो यस्य, स जीवन्मुक्त इष्यते।।

– ब्रह्मचारिणी गार्गी चैतन्य
चिन्मय मिशन, सतना

एक राजा जंगल में शिकार खेलने गया तो मार्ग भटक गया। वह भूख–प्यास से बेहाल था कि उसकी दृष्टि एक लकड़हारे पर पड़ी। लकड़हारे ने अपना भोजन और पानी राजा को दिया और उसे सही मार्ग तक छोड़ आया। अपना जीवन लकड़हारे द्वारा बचा लिए जाने के कारण राजा उसके प्रति कृतज्ञ था। उसी भाव से प्रेरित होकर राजा ने लकड़हारे का चंदन के वृक्षों का एक पूरा वन दान में दे दिया। कुछ दिन पश्चात् राजा लकड़हारे की स्थिति देखने को पहुंचे तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि वह अब भी निर्धन है; जबकि चंदन का वन नष्ट हो चुका है। कारण पूछने पर पता चला कि लकड़हारा चंदन की लकड़ियां काटकर व उन्हें जलाकर कोयला बनाकर बेच रहा था। उसका मूल्य न जानने के कारण वह अब भी निर्धन था। मानवीय जीवन का मूल्य न जानकर मनुष्य भी यही भूल करता है।

द्वैतवाद

मध्वाचार्य द्वैतवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका द्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से बिल्कुल भिन्न है। शंकर केवल एक, अद्वितीय ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार जीव और जगत भी सत्य हैं मध्व के अनुसार जीव और ब्रह्म में पूर्णतः ऐक्य नहीं है। 'तत्वमसि' का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा की मूल विशेषताओं में साम्यता है। इसका अर्थ है– 'त्वं वेदीयः अक्षि।' इस प्रकार जीव और ब्रह्म में भेद है। 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थ है– 'यह जो सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्म है। इसी प्रकार 'एकमेवाद्वितीयं' आदि वाक्य का अर्थ है कि ब्रह्म विश्व व्यापक है। यह अर्थ शंकर के अद्वैत से बिल्कुल भिन्न है। मध्व शंकर के समान ब्रह्म को अनिर्वचनीय नहीं मानते। ब्रह्म के अनिर्वचनीय होने का अर्थ है कि परमात्मा (ब्रह्म) का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। मध्व ब्रह्म को (सगुण) मानते हैं परन्तु उनका मत रामानुजाचार्य से भिन्न है। रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी हैं। उनके अनुसार जीव और जगत ईश्वर के विशेषण हैं। मध्व के अनुसार जीव और जगत भी स्वतंत्र सत्ता है। मध्व विष्णु को ही ब्रह्म मानते हैं। विष्णु से ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है। विष्णु ही जगत के नियंता हैं। अपने भक्तों पर दया करने के लिए अनेक अवतार धारण करते हैं। उनके सभी अवतार पूर्ण हैं।

जीव और ईश्वर के भेद के आधार पर मध्वाचार्य द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि श्रुतियों का तात्पर्य द्वैतवाद में ही है। उदाहरण के लिए मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि शरीर रूपी एक ही वृक्ष में जीव और ईश्वर परस्पर मिलकर सखा रूप में मिले हुए दो हंस पक्षी रहते हैं। इन दोनों में जीव रूप पक्षी शरीर वृक्ष के स्वादु–भोग के फल को भोगता नहीं, केवल देखता रहता है। तात्पर्य यह है कि जीव भोक्ता है और ईश्वर दृष्टा है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्रव्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।। (मु.आ. 3/1/3)

तात्पर्य यह है कि जीव भोक्ता है और ईश्वर दृष्टा है। श्वेताश्वतरोपनिषद में जीवात्मा का उसके प्रेरक ईश्वर से स्पष्ट भेद बताया गया है। जीवात्मा जब श्रद्धा, भक्ति से ईश्वर (परमात्मा) का सेवन करता है तभी वह मोक्ष को प्राप्त करता है। जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ। गहन प्रत्यक्ष एवं श्रुति का आश्रय लेकर ईश्वर जीव एवं जड़ जगत के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित पांच प्रकार के भेद मानते हैं– 1) ईश्वर से जीव का भेद, 2) ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद, 3) जीव का जीव से भेद, 4) जीव का जड़ से भेद, 5) जड़ पदार्थ का जड़ पदार्थ से भेद।

मध्वाचार्य मूलतः स्वतंत्र और अस्वतंत्र रूप से दो भिन्न मेल मानते हैं। स्वतंत्र तत्त्व केवल ईश्वर है तथा अन्य सभी परतंत्र। अन्य सभी तत्त्वों का आपसी भेद भी है। ऊपर के पाँच

प्रकार के भेदों का परिज्ञान ही मुक्ति का साधक है। मध्व सगुण साकार ब्रह्म (विष्णु) को ही परमात्मा, सर्वव्यापी, स्वतंत्र, नित्य मानते हैं। विष्णु की उपासना करने से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। मध्वाचार्य का मत शंकराचार्य, रामानुज आदि सभी आचार्यों से भिन्न है। शंकर के अनुसार भेद औपाधिक काल्पनिक है। रामानुज के अनुसार भेद सहित अभेद है। मध्व के अनुसार पूर्णतः भेद है।

किवदन्ती है कि सर्वप्रथम यह द्वैतवाद वायु देवता को प्राप्त हुआ, वायु से हनुमान को, हनुमान से भीम को और भीम से आनन्दतीर्थ को प्राप्त हुआ। आनन्दतीर्थ का दूसरा नाम मध्वाचार्य है। इनका समय 1199 से 1303 ई. माना जाता है। दक्षिण में श्रृंगेरी से पश्चिम 3 कि.मी. इनका जन्म स्थान माना जाता है।

– पं. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष– मानस समाज, सीपरी, झाँसी।

वन्दना

भव भयहरण अशरण शरण गुरुदेव पदवन्दन करें।
सोऽहम् शिवोऽहम् मंत्र का उर ध्यान हम निशिदिन धरें॥

स्वयं अपने आप में रहते मगन थे सर्वदा।
जो भक्त आते शरण में कर मुक्त देते मुक्तदा।
कहते स्वयं शिव रूप हो नश्वर जगत कुछ है नहीं।
कुछ नहीं बनना बनाना मिलना मिलाना कुछ नहीं।
देकर हमें उपदेश भौतिक तन प्रभु ने तज दिया।
हो लीन निज स्वरूप में संकेत हमको है किया॥ भव..........

पालन करो कर्तव्य अपना धर्म जो शास्त्रयुक्त है।
ज्ञान और वैराग्य रखना आत्म जग का प्रोक्त है।
क्या कहें कैसे सुनायें निज हृदय की बात को।
क्या करें कैसे दबायें यह कुठाराघात को॥ भव..........

हे प्रभु, हम जो भी हैं, हैं तो कहाते आपके।
भाव के चुन कुसुम लाये हैं शरण में आपके।
श्रद्धांजलि के रूप में सादर समर्पित कर रहे।
कर लीजिए, स्वीकार हम चरणों में मस्तक धर रहे॥
शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्

– नेहा ठाकुर

सत्संगति

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।।

अर्थात्– जिनसे मन में सदैव दूसरे का हित करने की, सहायता करने में लगे रहते हैं, उनके लिए सम्पूर्ण जगत में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

जब हमारा लक्ष्य प्रेम से भरा हो तो हमारा जीवन भी सुन्दरता, प्रसन्नता एवं दिव्यता से भर जाता है। इस दिव्यता के रंग आपके जीवन को आनन्द एवं प्रकाश से ओत–प्रोत करते रहते हैं। मनुष्य को अपनी ओर खींचने वाला यदि दुनिया में कोई असली चुम्बक है तो वह है आपका प्रेम और आपका व्यवहार। सत्संगति का हमारे जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जैसे लोगों का साथ होता है, वैसी ही आपकी भी विचारधारा बन जाती है और जैसी विचारधारा होती है उसी के अनुकूल आप कर्म करते जाते हैं और वही आपके आने वाला कल हो जाता है। इसलिए प्रत्येक कर्म को पूरी कुशलता से करने का प्रयास करें। कर्म के परिणाम कर्म की कुशलता पर ही निर्भर करते हैं। इसको एक रोचक कथानक के द्वारा समझा जा सकता है–

एक जंगल में एक संत अपनी कुटिया में रहते थे। एक किरात (शिकारी) जब भी वहाँ से निकलता संत को प्रणाम जरूर करता था। एक दिन किरात संत से बोला– "बाबा! मैं तो मृग का शिकार करता हूँ, आप किसका शिकार करने जंगल में बैठे हैं?" संत बोले– "श्रीकृष्ण का।" और फूट–फूट कर रोने लगे। किरात बोला– "अरे बाबा! रोते क्यों हो? मुझे बताओ वो कैसा दिखता है? मैं पकड़ कर लाऊँगा उसको।" संत ने भगवान का वह मनोहारी रूप वर्णन कर दिया– "कि वो सांवरा सलोना है, मोर पंख लगाते हैं, हाथ में बांसुरी है।" किरात बोला– "बाबा! जब तक आपका शिकार पकड़ नहीं लाता तब तक पानी भी नहीं पिऊँगा।" वो भी एक जगह जाल बिछाकर बैठ गया। प्रतीक्षा करते–करते 3 दिन बीत गये। भूखे–प्यासे शिकारी के ऊपर प्रभु को दया आ गयी और वह स्वयं बांसुरी बजाते उसके जाल में फंस गये। पहले तो वह श्याम सुन्दर को एकटक निहारता रहा फिर जैसे ही चेतना हुई तो बाबा का स्मरण कर उन्हें कन्धे पर लाद कर बाबा के सामने रख बोला– "बाबा! शिकार मिल गया।" और श्यामसुन्दर उसके भोलेपन पर रीझे जा रहे थे। "मुझे तीन दिन तक भूखा–प्यासा रखने के बाद मिले हो, अब मुझ पर मनमोहक मुस्कान से जादू–टोना कर रहे हो।"

बाबा ने जब यह दृश्य देखा तो संत के होश उड़ गये और किरात के चरणों में गिर पड़े। ठाकुर जी से कातर वाणी में बोले– "प्रभु! मैं इतने वर्षों से आपका भजन, उपवास, माला आदि कर रहा हूँ पर आप नहीं मिले और इस किरात को 3 दिन में ही.........।" भगवान बोले– "इसका तुम्हारे प्रति निश्छल प्रेम व कहे हुए वचनों पर दृढ़ विश्वास से मैं रीझ गया और मुझसे इसके समीप आए बिना रहा नहीं गया।"

कथा का सार यह है कि जिस पर संतों की कृपादृष्टि हो जाए उस पर तत्काल अपनी सुखद शरण प्रदान करते हैं। किरात तो जानता भी नहीं था भगवान कौन हैं, पर संत को प्रतिदिन श्रद्धा से प्रणाम करता था। संत प्रणाम और दर्शन का फल ये है कि 3 दिन में ही ठाकुर जी मिल गये। यह होता है सत्संगति का परिणाम।

संत मिलन को जाइये, तजि ममता अभिमान। ज्यों–ज्यों पग आगे बढ़ें, कोटिन्ह यज्ञ समान।।

– **रंजना शर्मा**, नोएडा

परम शान्ति

सांसारिक जीवन के झंझावतों से थक कर व्यक्ति का मन अशान्त हो जाता है और अवकाश मिलने पर शान्ति पाने की आकांक्षा से घूमने की योजन बना लेता है। पर्वत श्रृंखलाएँ, झील, सरोवर, हरे–भरे जंगल आदि प्राकृतिक रमणीक वातावरण के संसर्ग में आने पर मन को शान्ति मिलती है। जिससे वह ऊर्जावान एवं शक्ति सम्पन्न महसूस करने लगता है।

सारी सृष्टि ब्रह्म ही है। व्यक्ति का अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जब प्रकृति विशिष्ट चेतन के संसर्ग में आकर एक हो जाता है। तन मन को गहन शान्ति मिलती है। सांसारिक कर्मों में संलिप्त रहने के कारण समष्टि में व्याप्त चेतन के साथ जीव का तादात्म्य न हो पाने से मन अशान्त बना रहता है। व्यक्ति जब रमणीक प्राकृतिक वातावरण के साथ होता है तब सृष्टि में व्याप्त ब्रह्म से एकाकार होने पर हम सबके अन्दर व्याप्त चेतन ब्रह्म, प्रकृति में व्याप्त चेतन ब्रह्म से एक हो जाता है। दोनों एक ही चेतन सत्ता से प्रकाशित होने के कारण जीव का प्रकृति के संसर्ग में आने पर उसकी ओर स्वाभाविक आकर्षण हो जाता है। फिर जीव सारे संकल्प–विकल्प को त्याग कर अपने स्वरूप शान्त पद को प्राप्त कर लेता है। इस समय हमारा मन बाह्य स्थितियों के कारणरूप संकल्प–विकल्प से सृजित द्वंदों से पूरी तरह मुक्त रहता है। तभी मन, प्रकृति में व्याप्त चेतन में लीन होकर अपने स्वरूप सत्–चित्–आनन्द की अनुभूति शान्त मानस के रूप में पा लेता है।

चेतन ब्रह्म तो कण–कण में व्याप्त है। नदी हो चाहे पर्वत हो या पेड़–पौधे हों या जीव–जन्तु हों सभी ब्रह्म से ही शक्ति पाकर प्रकाशमान हो रहे हैं। चेतन का किसी भी काल में, कहीं भी अभाव नहीं है। वह सर्वत्र, सर्वकालिक नित्य रहने वाला है। प्रकृति, पर्वत, पेड़–पौधों को वही चेतन अपनी शक्ति से प्रकाशित कर रहा है। परन्तु वह शान्त अवस्था में रहता है और वही चेतन प्रकट रूप में देखने में आने के लिए शरीर में सन्नहित मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार तत्त्वों की आवश्यकता होती है और फिर चेतन सत्ता मनुष्य, जीव–जन्तु आदि की क्रियाशीलता के रूप में दिखने को आती है। जैसे प्रकृति पुरुष के साथ एवं लोहा चुम्बक को पाकर क्रियाशील हो जाता है। मनुष्य जीवन में ही उस तत्त्व को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। गुरु कृपा और उनके सानिध्य में मनन, चिन्तन, सत्संग, स्वाध्याय एवं निधिध्यासन आदि सद् आचरणों को जीवन में धारण करके चेतन तत्त्व को जान पाते हैं। वह चेतन तत्त्व इन्द्रियों से दृष्टिगोचर नहीं होता, मात्र विवेक द्वारा उसकी अनुभूति ही की जा सकती है। जब सर्वत्र ही चेतन तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब फिर जीव हो, चाहे प्रकृति सभी के प्रति मन प्रेमभाव से अभिभूत होकर परम शान्ति को पा लेता है।

जिस प्रकार से समान स्वभाव वालों में मित्रता हो जाती है वैसे ही मानव सर्वत्र चेतन की व्यापकता के कारण ही, प्रकृति के संसर्ग में आते ही गहन शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में उसे सांसारिक सुख निर्मूल्य प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा अनुपम है शान्ति, परम आनन्दमय हमारा निज सत् चित् आनन्द स्वरूप उसको ज्ञान स्वरूप भी कहते हैं। हमारा

बर्हिमुखी मन जहाँ विभिन्न आकांक्षाओं, कामनाओं से भरा होता है और उनकी पूर्ति न होने पर असन्तोष एवं व्याकुलता के कारण अन्दर ही अन्दर कोलाहल उत्पन्न हो जाता है, जिससे मन भी अशान्त हो जाता है। अशान्त मन बाह्य वस्तुओं, परिस्थितियों एवं स्वजनों के सानिध्य से शान्ति पाने का निष्फल प्रयास करता है। और अगर शान्ति मिलती भी है तो वह क्षणिक होती है। इस प्रकार हम समस्या का समाधान चाहते हैं किन्तु सांसारिक बन्धनों में बार–बार बंधकर जीवन को अशान्त बना बैठते हैं और शान्ति प्राप्ति के प्रयास निष्फल हो जाते हैं।

अज्ञानवश शान्ति बाहर खोजते रहते हैं जबकि ज्ञान की अवस्था आ जाने पर, पाते हैं कि वह तो हमारे अन्दर का सत्–चित्–आनन्द ही निज स्वरूप है। जिसे पाने के लिए मन को इच्छाओं एवं कामनाओं से सृजित सुख–दुःख के प्रभाव से मुक्त रखकर अन्तर्मुखी होकर निज स्वरूप की ओर ले जाना होगा। हम अन्दर अमन की स्थिति लाकर निज स्वरूप में स्थित होकर आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं और दूसरी ओर बाह्य चेतनमय जगत के संसर्ग में आकर उसके साथ एकाकार की अवस्था बनाकर शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं, जो क्षणिक हो सकती है।

शान्ति की अवस्था नित्य स्थायी पाने के लिए संकल्प–विकल्प का त्याग करके तथा तत्त्वतः निज आत्म स्वरूप को जानकर ही प्रज्ञावान पुरुष परम शान्ति को पा सकता है।

– प्रमोद कुमार गुप्ता
झांसी

मौन

हे मौन! मुझे मुझसे मिला दो।
स्व पर का ये भेद मिटा दो॥
गुरु कृपा से जो सुना गुना।
वो अन्तर में दृढ़ करा दो॥
विषयों में रमता था मैं।
आनन्द भूमि मुझे बना दो॥
जप तप साधन जो भी हुए।
साध्य नका अब दिलवा दो॥
चला राह पर सजाकर चोला।
अब तो साधु रहनि सिखा दो॥
मौन होकर भी मौन नहीं मैं।
तुम अपने नाम को सार्थक करा दो॥

– ब्र. राघवेन्द्र चैतन्य
चिन्मय मिशन, झाँसी
मो.– 8707209996

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करो

मनुष्य का कल्याण किसी परिस्थिति के अधीन नहीं है, अपितु उसके सदुपयोग में है। कैसी ही प्रतिकूल परिस्थिति क्यों न हो, उसमें वह अपना कल्याण कर सकता है। मनुष्य परिस्थिति को बदलने का प्रयास अधिक करता है कि निर्धनता चली जाय और धनवत्ता आ जाय, मूर्खता चली जाय और विद्वत्ता आ जाय, रोग चला जाय और नीरोगता आ जाय इत्यादि। इसी में उसका बहुत समय चला जाता है। परंतु कल्याण करने के लिये 'प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कैसे किया जाय?'– इस पर विचार करें तो बहुत लाभ होगा।

संसार में ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है कि जिसमें जीव का कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मा किसी भी परिस्थिति में कम या अधिक, समीप या दूर नहीं हैं, अपितु प्रत्येक परिस्थिति में समान रूप से विद्यमान हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति परमात्मा की प्राप्ति में साधक हो सकती है, बाधक नहीं। मनुष्य–जन्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही मिला है और किन्हीं दो मनुष्यों की भी परिस्थिति समान नहीं रहती। इसलिये किसी एक परिस्थिति में ही परमात्मा की प्राप्ति होती हो तो सब मनुष्यों का कल्याण हो सकता है– यह बात नहीं कही जाती, अपितु यह कहते कि किसी एक का ही कल्याण होगा। अतः साधक को प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोग के लिये पहले परिस्थिति को देखें कि वह हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल? यदि प्रतिकूल है, तो उसमें अनुकूलता की इच्छा का त्याग करना है। प्रतिकूल परिस्थिति दुःखदायी तभी होती है, जब सुखदायी परिस्थिति की इच्छा करते हैं। इसलिये यदि सुखदायी परिस्थिति (अनुकूलता) की इच्छा का त्याग करें, तो दुःखदायी परिस्थिति (प्रतिकूलता) विकास का कारण बन जायगी। ऐसे ही सुखदायी परिस्थिति आये, तो उसके सुख भोग का और (वह बनी रहे) ऐसी इच्छा का त्याग करना है। क्योंकि वह रहने वाली है ही नहीं। उसका सुख स्वयं न भोगकर उसके द्वारा दूसरों की सेवा करनी है। क्योंकि अनुकूल परिस्थिति दूसरों की सेवा के लिये ही है, अपने सुख– भोगके लिये नहीं।

एहि तन कर फल विषयं न भाई। स्वर्ग स्वल्प अंत दुखदाई। (मानस ७/४३।१)

'त्याग' अर्थात् सुख का भोग नहीं करना और 'सेवा' अर्थात् दूसरों को सुख पहुंचाना ये दोनों ही चीजें करने वाली हैं, जिसे प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। त्याग में सेवा होती है और सेवा में त्याग होता है।

मनुष्य दुःखपूर्ण परिस्थिति में भी दूसरों की सेवा कर सकता है, दूसरों को सुख पहुँचा सकता है। कोई कहे कि मेरे पास पैसे नहीं हैं, तो दूसरे को सुख कैसे पहुँचाऊँ! तो पैसों से ही दूसरों को सुख पहुँच सकता हो– ऐसी बात नहीं है। हमारे हृदय में दूसरों को सुख पहुँचाने का भाव होना चाहिये। दूसरा दुखी है, तो उसके साथ हम भी हृदयसे दुखी हो जायँ कि उसका दुःख कैसे मिटे? उससे प्रेमपूर्वक बात करें और सुनें। उससे कहें कि दुःखदायी परिस्थिति आने पर घबराना नहीं चाहिये। ऐसी परिस्थिति तो भगवान् राम एवं नल, हरिश्चन्द्र आदि अनेकों

बड़े–बड़े पुरुषों पर भी आयी है। आजकल तो अनेक लोग तुम्हारे से भी अधिक दुखी हैं। हमारे योग्य कोई काम हो तो कहना इत्यादि। ऐसी बातों से वह राजी हो जायगा। ऐसे ही सुखी व्यक्ति से मिलकर हम भी हृदय से सुखी हो जायँ कि बहुत अच्छा हुआ, तो वह राजी हो जायेगा। इस प्रकार हम सुखी और दुखी–दोनों व्यक्तियोंकी सेवा कर सकते हैं, दूसरेके सुख और दुःख–दोनों में सहमत होकर हम दूसरेको सुख पहुँचा सकते हैं। केवल दूसरों के हित का भाव **'सर्वभूतहिते रताः'** निरन्तर रहने की आवश्यकता है। जो दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होते हैं, वे सन्त होते हैं– **'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'** (मानस ७/३७/९)।

एक शंका होती है कि हम पहले ही अपने दुःखसे दुखी हैं, फिर दूसरेके दुःख से भी दुखी होने लगें, तो हम तो हरदम रोने में ही रहे। हमारा दुःख फिर कभी मिटेगा ही नहीं। क्योंकि संसार में दुखी तो मिलते ही रहेंगे! इसका समाधान यह है कि जैसे हमारे ऊपर कोई दुःख आने से हम उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही दूसरेको दुखी देखकर अपनी शक्ति के अनुसार उसका दुःख दूर करने की चेष्टा होनी चाहिये। उसका दुःख दूर करने की सच्ची भावना होनी चाहिये। अतः दूसरे के दुःख से दुखी होने का तात्पर्य उसके दुःख को दूर करने का भाव तथा चेष्टा करने से है, जिससे हमें प्रसन्नता ही होगी, दुःख नहीं। दूसरे के दुःख से दुखी होने पर अपने पास शक्ति, योग्यता, पदार्थ आदि जो कुछ भी है, वह सब स्वतः दूसरे का दुःख दूर करनेमें लग जायगा। दुखी व्यक्ति को सुखी बना देना तो हमारे हाथ की बात नहीं है, पर उसका दुःख दूर करने के लिये अपनी सुख–सामग्री को उसके अर्पित कर देना हमारे हाथकी बात है। इस प्रकार सुख–सामग्री के त्याग से तत्काल शान्ति की प्राप्ति होती है– **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२/१२)।

पातंजलयोगदर्शनमें आया है– **'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य–विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'** (१/३३) अर्थात्– सुखीके साथ मैत्री, दुखीके साथ करुणा, पुण्यात्मा के साथ प्रसन्नता पापात्मा के साथ उपेक्षा की भावना रखने से चित्त निर्मल होता है।

परंतु गीता ने इन चारों बातों को दो में बाँट दिया है– **'मैत्रः करुण एव च'** (१२/१३)। तात्पर्य यह कि सुखी और पुण्यात्माको देखकर मैत्री हो एवं दुखी और पापात्मा को देखकर करुणा हो। पापात्मा की उपेक्षा से उतना लाभ नहीं होता, जितना करुणा से होता है। मैत्री और करुणा के भाव से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। सुखीको देखकर ईर्ष्या करने से और दुखी को देखकर अभिमान करने से अन्तःकरण मैला हो जाता है। पापात्मा से घृणा द्वेष करने पर भी अन्तःकरण मैला हो जाता है।

हमारे सामने चाहे जैसी परिस्थिति, अवस्था, देश, काल, व्यक्ति, वस्तु आदि आये, वह सब–की–सब परमात्मा की प्राप्ति में साधन सामग्री है। यदि मनुष्य उसका सदुपयोग करने की विद्या सीख जाय, तो फिर उसका कल्याण निश्चित है।

कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, उसका सदुपयोग करना चाहिये। यदि सदुपयोग करना

न आये, तो सत्–शास्त्रों में देखें, सन्त–महापुरुषों से पूछें, स्वयं विचार करे, भगवान् को याद करें और उनसे प्रार्थना करे, तो सद्बुद्धि पैदा हो जायगी। उसके अनुसार आचरण करनेसे उद्धार हो जायगा। गीता हमें सिखाती है–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

'जय–पराजय, लाभ–हानि और सुख–दुःख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।'

– अरविन्द देवलिया

प्रार्थना कीजिए!

प्रार्थना अनुभव का विषय है, बहस का नहीं। भगवान् के नाम स्मरण से बढ़कर किसी भी दूसरी चीज में मैंने ताकत महसूस नहीं की।

आज काल–प्रवाह ईश्वर के अनुकूल है। कभी–कभी वह ईश्वर के खिलाफ जाता है, तब काल का खण्डन होता है। क्योंकि ईश्वर का खण्डन कभी नहीं हो सकता। फिर प्रलय हो जाता है। विष्णुसहस्त्रनाम में एक शब्द आया है– 'कालनेमिनिहा'। जहाँ काल ईश्वर की इच्छाके विरुद्ध जाता है, वहाँ काल खण्डित होता है और ईश्वर टिकता है। जहाँ समाज–प्रवाह काल–प्रवाह के खिलाफ जाता है, वहाँ समाज खण्डित होता है, काल टिकता है। जहाँ व्यक्ति समाज प्रवाह के खिलाफ जाता है, वहाँ व्यक्ति खण्डित होता है, समाज टिकता है। इस वक्त काल और ईश्वर दोनों एक हो गये हैं और समत्व की माँग कर रहे हैं। इससे बढ़कर कोई माँग नहीं हो सकती।

ईश्वर प्रेरणा दे रहा है विषमता का विरोध करने की, समता को लाने की, तो मुझे लगता है कि ईश्वर प्रलय नहीं चाहता। अगर वह प्रलय नहीं चाहता तो समाज को कालप्रवाह के और ईश्वरके अनुकूल होना ही है।

हिन्दुस्तान के लोग तो भावुक हैं ही, लेकिन दुनिया भर में किस किताब की सबसे ज्यादा प्रतियाँ खपी हैं? टाल्स्टाय, लेनिन आदि का साहित्य खपता है, लेकिन बाइबिल के सामने उसका कोई हिसाब नहीं है। यानी यूरोप और अमेरिका में भी अन्तः प्रवाह आध्यात्मिक विचार का ही है। वह न होता तो आज दुनिया में जो भूख पैदा हुई है कि सारी दुनिया एक हो, वह पैदा न होती। इसलिये आज दुनिया उसी हालत में है, जिसमें हम हैं। ऐसी हालत में हमारा यह तर्क करना कि 'प्रार्थना में बैठने पर जब मन इधर–उधर जाता है तो प्रार्थना में बैठें ही क्यों' बिलकुल गलत है। हमें श्रद्धा रखनी चाहिये और ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करना ही चाहिये। प्रार्थना के आकार–प्रकार आदि के बारे में मुझे कुछ नहीं सुझाना है। जिस मुँह को जो शब्द खींचते हैं, वह उन्हीं शब्दों द्वारा प्रार्थना करे।

– विनोबा भावे

विवेक और संस्करण

ईश्वर द्वारा प्रदत्त मानव जीवन के अनेकों गुणों में एक अनुपम गुण है विवेक। ध्यान देने वाली बात यह है कि जीवन में विवेक का उदय कब होता है? समीक्षा करने पर पता लगता है कि बिना समता के विवेक की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। जो पक्षपात से उत्पन्न होता है वह विवेक नहीं बल्कि कुतर्क कहलाता है। जब हम अपनी व्यक्तिगत या सम्प्रदायगत अथवा जातिगत वासनाओं की पूर्ति हेतु अपने विवेक का प्रयोग करते हैं तो वह सच्चा विवेक न रहकर कुतर्क बन जाता है।

उदाहरणार्थ– अदालत में एक वकील अपने क्लाइण्ट (मुवक्किल) से फीस लेने की खातिर सच्ची–झूठी दलीलें प्रस्तुत करता है, यद्यपि वह सत्य से अवगत होता है किन्तु फिर भी अपने विवेक को पक्षधर की ओर मोड़े रहता है। उस समय वह उचित–अनुचित का अन्तर त्याग देता है और तभी विवेक कुतर्क में परिवर्तित हो जाता है। उसी प्रकार हम जब–जब अपनी वासनाओं से ग्रस्त होकर उनकी आनन्दपूर्ति हेतु फीस लेकर अपनी बात का समर्थन करने लगते हैं तभी हमारा विवेक कुतर्क में बदल जाता है। जैसे कि कोई चीज खाने की इच्छा हुई तो हमने उसमें जोड़ दिया कि यह तो स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है अर्थात् जीभ की वासना को पूरा करने के लिए बुद्धि का प्रयोग किया गया यह विवेक नहीं है क्योंकि यहाँ तो बुद्धि वासना के वशीभूत होकर कुमार्गगामी हो गई। यही कुतर्क कहलाता है। अतः हमें चाहिए कि हम कोई भी कार्य बिना विवेक के न करें। वासनाओं के अधीन होकर लिये गये निर्णय अधिकांशतः गलत होते हैं। वासना की पूर्ति एवं वासना की निवृत्ति दोनों में समान होकर शुद्ध विवेक से हमें निरीक्षण करना चाहिए। कहा भी गया है–

"सहसा विद्धीत न क्रियां अववेकः परमापदम्।"

एकाएक अचानक ही किसी कार्य को नहीं करना चाहिए क्योंकि बिना विचार किए करा गया कोई भी कार्य उचित नहीं होता। उससे संकट और विपत्ति आती है।

भारतीय संस्कृति के समस्त शास्त्रों का मात्र एक सिद्धान्त है कि जीवात्मा के समस्त पाप धुल जाएँ एवं वह स्वच्छ और सुसंस्कृत हो जाए। सुसंस्कृत का अर्थ है– शोभा में वृद्धि। जीवात्मा का ऐसा अस्तित्व ऐसा परिवेश जिन में दृश्य या विदृश्य किसी भी प्रकार की मलीनता न हो, सुसंस्कृत कहा जायेगा। हमारे जितने भी शास्त्र हैं, चाहे वह गीता हो, रामायण हो या वेद–संहितायें हों, हमारे जीवन में हमें संस्कार ही देती हैं। ये संस्कार तीन प्रकार के होते हैं– 1) दोषापनयन, 2) गुणाधान, 3) हीनाङ्गपूर्ति।

1. दोषापनयन– ये वो दोष है जो मनुष्य के हृदय में दूसरे मनुष्य के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष या प्रतिकार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इसमें कहने वाले की जिह्वा मन और हृदय तीनों मैले हो जाते हैं एवं सुनने वाले के कर्ण छिद्र से होते हुए उसके हृदय को घायल व दुःखी करते हैं। ऐसे गलत कर्म से वक्ता एवं श्रोता दोनों आहत हो जाते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए शास्त्र जो वर्णन करते हैं उसे दोषापनयन अर्थात् दोष मिटाने वाला संस्कार कहा जाता है।

दूसरा संस्कार होता है–

2. गुणाधान– गुणाधान का अर्थ है कि मानव में ऐसे भाव एवं विचारों का संचरण होने जिससे उसके अपने जीवन में सुख एवं आनन्द की स्फूर्ति आवे तथा उसके कार्य–कलाप से अन्य लोग भी सुख और आनन्द की अनुभूति कर सकें अर्थात् वक्ता स्वयं भी सुया की स्फुरणा से ओतप्रोत हो एवं श्रोता भी सुख और आनन्द का उपयोग कर सके। तो इस प्रकार के गुण हमारे जीवन में आवें, ऐसा करना जो हमें सिखाए वही गुणाधान कहलाता है।

तीसरा संस्कार होता है–

3. हीनाङ्गपूर्ति– अर्थात् अपनी पूर्णता का अनुभव। जिस मनुष्य के अन्दर हीनता का भाव आ जाता है कि उसके पास ये नहीं है या हमारे अन्दर ऐसा गुण नहीं है। इस प्रकार के विचारों से जब मन दुःखी होने लगता है तो हम हीनता के भाव से घिर जाते हैं एवं अपने आपको दुःख समझने लगते हैं। जबकि ये मनुष्य की विचारधारा है, उसका असन्तोष है। क्योंकि सन्तोष एक ऐसी विचारधारा है जो न तो दोष की तरह दुःख देने वाली है और न ही गुण की तरह सुख देने वाली है। अतः इसका (संतोष का) हमारे जीवन में होना अत्यन्त आवश्यक है।

अब इन तीनों संस्कारों का संक्षेप में विवरण समझिए–

जैसे कि शरीर में कोई विकार आया। कोई गाँठ पड़ गई तो उसे ऑपरेशन कर निकाल दिया गया। यह हुआ **दोषापनयन**। दोष को दूर करना। अब दूसरा खुरदुरी त्वचा या जली हुई त्वचा को तेल क्रीम या अन्य दवा लेपों के द्वारा उसे सुन्दर बना लिया जाए तो ये हुआ **गुणाधान**। और तीसरा शरीर का कोई अंग क्षतिग्रस्त होकर अलग हो गया या जन्म से ही कोई भंग नहीं है तो शल्य–चिकित्सा द्वारा उस भंग को अपने में जोड़ लेना, ये होती है **हीनाङ्गपूर्ति**। तो इस प्रकार ये तीनों संस्कार हमारे दैनिक जीवन को सुखी और सुलभ बनाते हैं।

संकलनकर्ता– **कुमकुम बिसारिया**
आदर्श नगर, सीपरी बाजार,
झाँसी

‘धर्म’

धर्म जो कि एक भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों का आधार है, अब कुछ लोगों द्वारा समझा जाता है और कई लोगों द्वारा गलत समझा जाता है। जो लोग वैदिक ग्रंथों से परिचित हैं, वे इसके साथ भावनात्मक संबंध रखते हैं, और जिनके लिए वैदिक ग्रंथ अलग–थलग हो गए हैं, यह एक विभाजनकारी कारक प्रतीत होता है। इस लगाव और अज्ञानजनित घृणा से परे, आइए धर्म को वेदान्तिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करें जिसमें शब्द वास्तव में परिभाषित किया गया है।

धर्म मूल ‘धृ’ से आता है, जिसका अर्थ है ‘धारण करना’। वह जो धारण करता है, धर्म है, जिसके बिना अस्तित्व ही सम्भव नहीं है।

मानिए कि आप एक कुर्सी पर बैठे हैं। आपको कौन धारण किए हुए है? कुर्सी। कुर्सी को कौन धारण किए हुए है? तल। तल को क्या धारण किए है? गृह। गृह को क्या धारण किए है? पृथ्वी। पृथ्वी को क्या धारण किए है? ब्रह्मांडीय बल, और इन बलों को जो धारण किए है, वह धर्म है।

वेदान्त अनुसार परम सत्य शुद्ध चौतन्य है। मात्र एक चेतना की ही सत्ता है। ये अद्‌भुत संसार जिसे हम अनुभव करते हैं, उस पर अध्यारोपित है, और हमारे अनुभव इसमें मात्र संवेदनाएं हैं। इसलिए, वास्तव में, कोई पृथक व्यक्ति है ही नहीं। हां, अनुभव व्यक्तिगत अवश्य हैं। अज्ञान के कारण, व्यक्ति स्वयं को देहाभिमान में पृथक जानकर जन्म, मृत्यु और शोक को प्राप्त होता है। चूंकि चेतना हर वस्तु का एकमात्र आधार है, यही संसार को धारण किए हुए है, इसलिए यही वास्तव में धर्म है। यही कारण है कि धर्म विष्णु सहस्रनाम में श्री विष्णु के नामों में से एक है। विष्णु का अर्थ है, जो सभी में व्याप्त है।

वेदान्त की ये घोषणा सत्य है या नहीं, ये विचार का विषय है और करना भी अवश्य चाहिए।

हमारा सच्चा स्वरूप चेतना है, लेकिन जब तक अज्ञान है, तब तक देह अभिमान के कारण, हम विभिन्न भूमिकाएं निभाते हैं। व्यवहारिक रूप में जो भूमिका हम धारण करते हैं, वह भी धर्म है। हम एक पिता, एक माँ, बेटा, बेटी, पति, पत्नी, छात्र, कार्यकर्ता, सैनिक, राजनेता, शिक्षक आदि के रूप में विभिन्न भूमिकाओं के माध्यम से रहते हैं। इसलिए हैं पितृ धर्म, छात्र धर्म आदि। इसका तात्पर्य ये है कि यदि हम अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा से कर रहे हैं तो हम धर्म का पालन कर रहे हैं। अन्यथा, कर्तव्यों का निर्वाहन न होने से हम अधर्म का कारण बनते हैं। उदाहरण के लिए, एक छात्र का धर्म अध्ययन करना है लेकिन यदि वह कक्षा न जाए, मनोरंजन में समय नष्ट करे तो वह छात्र धर्म के विरुद्ध है।

जीवन साधारण भी नहीं। यदि एक ही समय पर एक से अधिक कर्तव्यों का निर्वाहन करना हो और वो आपस में विरुद्ध हों तो किसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए और क्यों?

उदाहरण के लिए, किसी कार्यालय में एक कर्मचारी राष्ट्रीय सुरक्षा सूचना बेचने के लिए रिश्वत ले सकता है ताकि वह विदेश में अपनी बेटी की शिक्षा को निधि दे सके। यहां, राष्ट्र धर्म और पितृ धर्म में संघर्ष दिखाई देता है। संकीर्ण, निम्न या व्यक्तिगत हितों को सदैव व्यापक, उच्च या सामान्य हितों के लिए त्याग देना चाहिए। यही नैतिकता है, यही धर्माचरण है।

एक अस्तित्व का सच्चा स्वरूप अनंत चेतना ही है, इसलिए, किसी भी संकीर्ण या परिमित क्षेत्र में वास्तविक सुख की कोई संभावना नहीं है। एक व्यक्ति की यात्रा आत्मा से परमात्मा तक होती है। भले ही कारावास कितना सुंदर हो, क्या कोई इसमें हमेशा रह सकता है? इसलिए, स्वयं का ज्ञान होना की मैं अनंत चेतन तत्त्व हूँ, ही परम और स्थायी सुख का स्रोत है। इस कारण ही, श्रीमद् भगवदगीता में मुक्ति के लिए कहा है:

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(सभी धर्मो का त्याग कर एक मेरी अर्थात् आत्म चेतन की शरण लो।)

किंतु ये एक योग यात्रा है, सीमित से असीमित की, जो कर्म से, भक्ति से, ध्यान से होकर जाती है। इसमें लक्ष्य भी धर्म है, और मार्ग भी धर्म।

भगवद् पाद आदि शङ्कराचार्य, गीता भाष्य में लिखते हैं:

जगतः स्थिति–कारणं, प्राणिनां साक्षात्–अभ्युदय–निःश्रेयस–हेतुः यः सः धर्मः

जो जगत की स्थिति का कारण तथा प्राणियों की उन्नति का और मोक्ष का, साक्षात हेतु है, वह धर्म है।

ॐ तत् सत्। ॐ नमः शिवाय॥

– शंकरदास

सद्गुरु कीर्तन

तेरा मन्दिर है घट भीतर सुनो रे भक्त मतवाले।
तुम्हीं मन्दिर की मूरत हो तुम्हीं हो इसके रखवाले॥
हृदय के मनविकारों ने किया मन्दिर को मैला है।
बहा दो भक्ति की गंगा जो मैले को बहा डाले॥
तू घट के पंच झरोखों से बुला ले ज्ञान की आँधी।
उड़ा दे पाप के कूड़े को जीवन में जो कर डाले॥
मिला जीवन को सोऽहम् से उसी में सार तेरा है।
रखो हृदय में सद्गुरु को वहीं हैं तारने वाले॥
तेरा मन्दिर है घट भीतर सुनो ऐ भक्त मतवाले।

– कुमकुम बिसारिया

गुरु और शास्त्र

ॐ हरि तत्सत् शिवोऽहम् सोहम्। परम पूज्य गुरू महाराज ब्रह्मलीन स्वामी श्री शुकदेवानन्द जी को शत–शत नमन। आपका आशीर्वाद सदैव हम पर बना रहे। शिवोऽहम्।

प्रत्येक मनुष्य को अपने गुरू व शास्त्र में कही गयी बात समझने में और उसके पुष्ट करने में युक्ति तर्क लगाना चाहिए। अपितु मनुष्य इसके काटने में दिमाग लगाने लग जाता है। जबकि मनुष्य को चाहिए कि यदि उसको समझ नहीं आता है तो उसे वह कैसे समझे, इस हेतु मेहनत करे। साधू–संत अथवा गुरुओं द्वारा जो कुछ भी समझाया जाता है वह सब कुछ ऐसा नहीं है कि पढ़ कर या रट कर समझा दिया गया हो। उन्होंने साधना, पुराण व ग्रन्थों से और उन्होंने भी अपने गुरुओं से जानकर स्वयं अनुभव कर बताया है। इसीलिए गुरु और शास्त्रों की बात समझने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। उस श्रद्धा अनुसार ही समझ को लगाना है न कि समझ के अनुसार श्रद्धा को। परन्तु इसके विपरीत मनुष्य शास्त्र को अपने मत के अनुसार मिलाने की कोशिश करने लगता है, जो ठीक नहीं है। शास्त्र के अनुसार अपने मत को बनाओ।

हम अपनी समझ के अनुसार पैदा होकर मर जाते हैं। हमारी जो समझ में आता है हम वही बोले जाते हैं, किये जाते हैं और माने जाते हैं। हम समझ बदलने को तैयार होते ही नहीं है। जबकि ग्रन्थों के माध्यम से ही हम अपनी समझ को बदल सकते हैं परन्तु हम उनका भी उपयोग नहीं करते। ग्रन्थ केवल लिखे रहने के लिए नहीं हैं, उनका उपयोग हमारे जीवन को सुधारने के लिए ही है। यदि देखा जाये तो भगवान ने मनुष्य की उम्र सोच समझकर ही 100 वर्ष तय की है, जबकि अन्य जीवों की इतनी नहीं होती। बैल न तो ज्यादा समय तक बच्चा ही रहता है और न ही ज्यादा समय के लिए बूढ़ा होता है। भगवान ने मनुष्य को बुढ़ापा अधिक समय के लिए दिया। इसीलिए कि वह वृद्धावस्था में अपने सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर भगवान में ध्यान लगा सके और सत्य को जान सके।

हम अपनी जाग्रत अवस्था में देह के अध्यास के कारण ही सुषुप्ति अवस्था में झूठ4 मिथ्या ही सब कुछ देख लेते हैं। स्वप्न हमारे जाग्रत के अध्यास का ही परिणाम है। ठीक इसी प्रकार जो हमार अगला जन्म होता है वह पिछले जन्म का परिणाम होता है। हमारे द्वारा पिछले जन्म में किये गये कर्म ही अगले जन्म के फल होते हैं। जन्म का अध्यास बार–बार जन्म दिलाता है। जिसका जाग्रत अवस्था में देह का अध्यास समाप्त हो जाता है, उसका अगला जन्म भी समाप्त हो जाता है। हम अनादिकाल से ही देह रहे हैं तो हम अपने वर्तमान से ही अपना भविष्य सुधार सकते हैं, जो गलतियां हमने अपने पिछले जन्मों में की हैं, उनको सुधारें। यदि हम इस जन्म में ब्रह्म हो जाते हैं, देह तो रहे पर हम ब्रह्म हो जायें, तो जब हम ब्रह्म हो जाते हैं तब हम निराकार हो जाते हैं और अकाल पुरख हो जाते हैं। जब हम अकाल–पुरख हो जाते हैं तो हम इस देह को छोड़कर अकाल में ही रह जाते हैं। शिवोहम्।

– वैभव वर्मा

मानव मांसाहारी या शाकाहारी?

देवों के देव आदि देव, परमपिता परमेश्वर शिव ने ही सृष्टि–रचना के लिये अपनी ही माया से स्वयं का बायाँ भाग नारी का बना लिया और 'अर्धनारीश्वर' कहलाये। उन्होंने अपनी ही माया से नारी को अपने ही शरीर से अलग कर दिया, जो शक्ति कहलायी। बाद में अपने ही शरीर के दाहिने भाग से ब्रह्माजी की उत्पत्ति की, जिन्होंने अपने शरीर से सरस्वती को उत्पन्न किया। जिन्हें शिवजी ने सृष्टि की रचना का कार्य सौंप दिया। तदनन्तर बायें भाग से नारायणजी की उत्पत्ति की। जिन्होंने लक्ष्मीजी की उत्पत्ति की। शिवजी ने नारायण को पोषण का कार्य सौंप दिया तथा स्वयं के पास संहार का कार्य रखा।

ब्रह्माजीने सुगमता से सृष्टि–रचना के लिये सात ऋषियों की उत्पत्ति की, जो कश्यप, वसिष्ठ, जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, अत्रि और अंगिरा कहलाये। कश्यप ऋषि ने अपनी अलग–अलग पत्नियों से पशु, पक्षी, मानव, देव, दानव, पेड़–पौधों और कीड़े–मकोड़ों आदि की उत्पत्ति की।

प्रकृति ने मनुष्य के साथ इतना तारतम्य बनाया है कि सामान्य बुद्धि का व्यक्ति भी समझ जाय कि उसके लिये आहार के रूप में क्या ग्रहण करना उपयोगी है। जैसे सेव फल की आकृति हृदय–जैसी है। फेफड़े की आकृति देसी जामफल–जैसी है। यकृत की आकृति पपीता–जैसी है। इसी तरह परमात्मा ने मांसाहारी जानवरों को दो दाँत ऊपर और दो दाँत नीचे दिये हैं, जो कि नुकीले तथा बड़े हैं, ताकि वे जानवरों को पकड़कर और नोचकर खा सकें तथा शाकाहारी जानवरों को एक समान दाँत दिये हैं, मानव के दाँत भी शाकाहारी जानवरों की तरह हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव पूर्णरूपेण शाकाहारी ही है। जो शाकाहार आराम से कर सकता है, कच्चा मांस नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि भोजन तीन प्रकारका होता है– सात्त्विक, राजसिक, तामसिक। मांसाहार तामसिक भोजन है, जिसके कारण तामस (भोगच्छा) की बढ़ोत्तरी होती है, जिसके कारण अपराधों में भी बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक है, क्योंकि 'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन'।

जिसकी भी मृत्यु होती है, उसे या तो श्मशान में ले जाया जाता है या कब्र में। कोई भी कितना भी बड़ा सूरमा क्यों न हो, वह जीते–जागते जानवर का भक्षण नहीं कर सकता, उसे मारकर ही उदरस्थ करता है, यानी अपने मानव शरीर को चलता–फिरता श्मशान या कब्रिस्तान बना देता है।

कोई कितना भी करीबी क्यों न हो, प्राण निकलने के बाद जल्द–से–जल्द बाहर दाह के लिये या कब्र के लिये ले जाया जाता है, यह कहते हुए कि अभी बदबू मारने लगेंगे। अन्नादि बच जाने पर भी अन्य को या जानवर को दे देते हैं, अन्यथा वह सड़कर दुर्गन्ध उत्पन्न करता है, पर शराब के लिये शाक और अन्न को इतना सड़ाया जाता है। जहाँ शराब बनती है, वहाँ

से एक से डेढ़ किलोमीटर तक के घेरे में बदबू का वास रहता है। जहाँ शराब बनती है, उस कारखाने के पास पहुँचते–पहुँचते दम घुटने जैसा हाल हो जाता है। ऐसी सड़ांध का रस शराब के रूप में पानकर तामसी व्यक्ति मदान्ध होकर इतराता है और अपराध करता है। क्योंकि शराब के कारण आदमी की सोचने–समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है, जो आगे अपराध का कारण बनती है। मांसाहारियों को प्रायः मांसाहार को पचाने के लिये इस प्रकार की शराब का सेवन करना पड़ता है। कई बार ऐसा भी मांसाहारी कहते हैं कि 'मांस खाने से अन्न की पूर्ति होती है।' बादमें गहराई पर जाने पर गलत ही सिद्ध होता है कि वह जानवर जो भक्षणयोग्य होता है, तब तक जितने भी लोगों की उदरपूर्ति एक बार में होती उससे कई गुना अधिक वह अन्न, शाक, जल तथा हवाका उपयोग कर चुका होता है। अतः मूल में तो घाटा ही है। वार्तालाप में कई बार मांसाहारी लोग यह भी कहते हैं कि 'हम अगर इनका भक्षण नहीं करें तो इनकी संख्या इतनी बढ़ जायगी कि जमीनपर पाँव रखने की भी जगह नहीं मिलेगी।' उनके ऐसे कथन से तो लगता है कि सृष्टि के रचनाकर्ता परमपिता परमेश्वर ने उनको कान में आकर कह दिया है कि 'मैं सृष्टि को सँभालने में असमर्थ हूँ, इसलिये तुम उनका भक्षणकर मेरा हाथ बठाओ।' जबकि सत्यता यह है कि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति परमात्मा अपनी इच्छा से करता है।

वार्तालाप में कुछ मांसाहारी ऐसा भी कहते हैं कि 'खायेंगे नहीं, पीयेंगे नहीं तो जीयेंगे कैसे? और साथ ही कैसे शक्तिशाली बनेंगे?' जबकि सत्यता इसके विपरीत है। सब प्रकारके शोधों से प्रमाणित हो चुका है कि शाकाहारी अधिक स्वस्थ रहते हैं तथा साथ ही यह भी सत्य है कि शेर जीवन भर मांस ही खाता है तथा हाथी जोवनभर शाकाहारी ही रहता है, परंतु शेर की तुलना में हाथी का जीवनकाल शेर से कई गुना अधिक होता है। वास्तव में जो आदमी जितना अधिक प्रकृतिसे जुड़ा रहता है, उतना ही स्वस्थ रहता है। प्राकृतिक तौर से यह सिद्ध भी हो चुका है कि लाइलाज बीमारियाँ अधिकतर मांसाहारी लोगों को ही होती हैं।

कुछ लोग शास्त्रों में आये बलि–प्रकरण के आधार पर मांसाहार और मद्यपान का समर्थन करते हुए कहते हैं कि इससे कतिपय देवी–देवता प्रसन्न होते हैं, परंतु शास्त्रों का तो यह भी कहना है कि वास्तव में देवी–देवताओं को बलि स्वीकार नहीं है, वे बलि से प्रसन्न नहीं होते हैं, पर जीव की हत्या के पाप का भागी उसो को बनना पड़ता है, जिसने पशु–बलि दी। बलि को आवश्यक न समझते हुए देवी–देवता श्रीफल (नारियल), हरिया (नीबू), भूरापेठा को भी तथा शराब की जगह दही में गुड़ को स्वीकार करते हैं। कहने का तात्पर्य कि जीवहत्या करना या करवाना उचित नहीं।

एक बात और है कि अन्न एवं शाक तो चाहे जो पैदा कर सकता है, लेकिन कोई भी व्यक्ति पशु–पक्षी नहीं पैदा कर सकता। जिसे मानव पैदा नहीं कर सकता, उसको मिटाने का हक भी नियमानुसार परमात्मा ने उसे नहीं दिया है। शास्त्रों का यह भी कहना है कि जो दूसरों के दुःख में दुखी होता है तथा दूसरे के सुख में सुखी, सही मायने में वही मानव है।

इस्लाम ने भी जीव–हत्या की इजाजत नहीं दी है। कुरान में भी लिखा है– वैसे तो छः

ऋतुएँ होती हैं, पर मुख्यतः सर्दी, गर्मी और बरसात तीन मानी जाती हैं। वर्षा में पानी गिरता है, पानी से घास उगती है, घास को गाय खाती है, गाय से दूध मिलता है। अपनी सगी माँ भी ६, ८, १२ महीने के बाद दूध पिलाना बन्द कर देती है, जबकि एक गाय ही है जो जीवन भर दूध पिलाती है। सो वह माँ से भी बढ़कर है। ऐसा कौन होगा जो माँ को मारकर खा जाय। अर्थात् कोई नहीं।

बच्चा जो भी सीखता है, अपने ही घर से सीखता है। सन् १९७५ ई. के आस-पास की एक घटना है, एक कसाई-परिवार में पति-पत्नी और उनके तीन बालक थे। एक बालक लगभग ८ माह का, दूसरा करीब ४ साल का, तीसरा लगभग ८ साल का। घर में आये दिन बकरे कटते देखने पर बड़े वाले बालक ने अपने मंझले भाई को कहा, 'छत पर चल कर खेल खेलते हैं।' वह बकरे काटने वाला हथियार भी ले गया, वहाँ उस बालक ने मंझले भाई पर खेल-खेल में हथियार चला दिया, तब वह जोर से चिल्लाया, नीचे उसकी माँ सर्दी के दिन होने के कारण अपने आठ माह के बच्चे को तगारी में गर्म पानी से नहला रही थी, मंझले बच्चे की रोने की आवाज सुनकर वह छत की ओर भागी। तब बड़े बच्चे ने घबराकर ऊपर से छलाँग लगा दी, वह सिर के बल गिरा और तुरन्त काल-कवलित हो गया। मंझले बच्चे की आधी गर्दन कट चुकी थी और वह माँ के सामने ही तड़पकर शान्त हो गया, इधर नीचे आठ माह का बच्चा तगारी में डूबकर मर गया। इस तरह चन्द मिनटों में ही घर का चमन उजड़ गया, ऐसी हृदयविदारक घटना भुलाये नहीं भूलती।

मांसाहारी प्रायः यह भी कहते हैं कि 'मांसाहार जायकेदार होता है, स्वादिष्ट होता है, इसलिये भक्षण करते हैं', जबकि सत्यता यह है कि मांस में कोई भी स्वाद नहीं होता, उसमें पकाते समय मिर्च-मसाला, घी, तेल आदि का स्वाद होता है। जानवर का उसके वध से पहले कोई परीक्षण नहीं किया जाता, नतीजतन यदि जानवर बीमार हो तो उसकी बीमारी के कीटाणु भी उदरस्थ हो जाते हैं। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार जो भी बीमारियाँ होती हैं, वे किसी-न-किसी कीटाणु के कारण ही होती हैं। ऐसा न होता तो कभी-कभी जो यह सुनने को मिलता है कि बर्ड फ्लू हो गया और कई मुर्गियों की हत्या कर दी गयी तथा चिकित्सा विज्ञान यह भी सिद्ध कर चुका है कि मोटी-मोटी लाइलाज बीमारियों जैसे-हृदयघात, मधुमेह, कैंसर, अस्थमा, रक्तचाप वगैरह-वगैरह मांसाहारियोंको अधिक होती हैं।

चिकित्साशास्त्री बताते हैं कि विभिन्न रोगों का कारण अनुचित आहार है। गोलकृमि नामक कीट सुअर के अधपके मांस के कारण होता है। बर्डफ्लू मुर्गियोंसे फैलता है। मैड काऊ रोग गाय को मांस खिलाकर उससे प्राप्त दूषित मांस से होता है। वैश्विक आपदा के रूप में आयी कोरोना महामारी का प्रारंभ भी चीन के एक मांस-बाजार से ही हुआ था। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव के लिये शाकाहार ही उपयुक्त है और प्रकृति ने उसे शाकाहारी ही बनाया है, मांसाहारी नहीं। अतः मांसाहार कभी नहीं करना चाहिये।

– डा. अनिल कुमार दुबे

महावाक्य

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम् केवलोऽहम्॥

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवा केवलोऽहम्।
चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥

निराकार रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥
परात्पर ब्रह्म शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥

अहं ब्रह्म अस्मि शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥
मैं तत्त्वमसि सोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥

प्रज्ञानम् ब्रह्म सोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
अयमात्मा ब्रह्म सोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥

निरंजन ब्रह्म सोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥
आनन्दम् ब्रह्म सोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।

शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवाः केवलोऽहम्।
चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।

नहीं बुद्धि मन भी नहीं चित् हूँ मैं,
सदा एक रस हूँ मैं साक्षी शिवोऽहम्।

न मैं ज्ञान इन्द्र नहीं कर्म इन्द्रिय,
नहीं प्राण संज्ञा हूँ दृष्टा शिवोऽहम्॥

मैं तन भी नहीं हूँ न तन भी है मेरा,
नहीं सप्त धातु हूँ अविचल शिवोऽहम्।

न मैं पंच वायु नहीं पंच कोषा,
नहीं भूत पांचों सनातन शिवोऽहम्।

है मुझमें नहीं लोभ मोहादि कुछ भी,
सदा द्वेष रागों से न्यारा शिवोऽहम्।

नहीं लेश भी पुण्य पापों का मुझमें,
अकर्ता अभोक्ता अजन्मा शिवोऽहम्।

नहीं सुख दुःखों का भी आवेश मुझमें,
नहीं वर्ण आश्रम का बन्धन शिवोऽहम्।

न माता पिता बिन्धु कोई है मेरा,
सभी भूत प्राणी का कारण शिवोऽहम्।

सभी ठौर व्यापक में रहता निरन्तर,
सभी में सभी से निराला शिवोऽहम्।

सदा शुद्ध हूँ मैं सदा मुक्त हूँ मैं,
निराकार में निर्विकारी शिवोऽहम्।

नित्योऽहम् परोऽहम् शिवः केवलोऽहम्,
ये सत्गुरु की वाणी सदा ही शिवोऽहम्।

ये वेदों की वाणी सदा ही शिवोऽहम्,
सभी ब्रह्म ऋषियों का अनुभव शिवोऽहम्।

ये सद्गुरु का अनुभव अटल है शिवोऽहम्।
शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवः केवलोऽहम्।

चिदानन्द रूपाः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
शिवोऽहम्

सत्गुरु आरती

मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।
जिनकी चरण कमल रज सुन्दर,
भव दुःख सकल निबारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

दया से जिनकी द्वैत दूर हो,
मन की माया टारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

वाणी अमृतमय सुन जिनकी,
बुद्धि ब्रह्म को धारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

पाकर के विज्ञान ज्ञान को,
पूर्ण शान्ति विस्तारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

गुरु अविनाशी घट–घट वाशी,
दुनिया तुम्हें पुकारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

– पाठकों से निवेदन –

Website : www.akhandavedanta.com
E-mail : neerajnikhra@gmail.com, diszvaibhav@gmail.com

गुरु भक्त अपनी ई–मेल पर **"अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता"** पत्रिका नि:शुल्क चाहते हैं तो उपर्युक्त ई–मेल आईडी पर सम्पर्क कर सकते हैं।

पाठकों से अनुरोध

वेदान्त आश्रम के समस्त भक्तों से अनुरोध है कि धार्मिक विषयों पर लेख या कविता, लिखने वाले नव–रचनाकार अपनी रचनाओं को विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता पत्रिका में छपने हेतु भेज सकते हैं। उचित रचनाओं को पत्रिका में स्थान अवश्य दिया जायेगा। रचनायें सुलेख में लिखी हों या फिर टाइप कराकर 10 जनवरी 2025 तक अवश्य भेज दें। सधन्यवाद। **– सम्पादक**

लेख व्हाट्सएप नं. : 9415503668 तथा 9455422522 पर भी भेज सकते हैं।

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रद्धेय 1008 स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

जन्म-चतुर्दशी ज्येष्ठ शुक्ल सं. 1991
(15 जून 1934)

ब्रह्मलीन-सप्तमी अगहन शुक्ल सं. 2077
(21 दिसम्बर 2020)

अनन्त श्री विभूषित श्री श्री 1008 श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज परमहंस

अनन्त श्री विभूषित श्री श्री 1008 श्री स्वामी विश्वम्भरानन्द जी महाराज परमहंस